

जैन सम्राट खारवेल एवं हाथीगुम्फा अभिलेख

सारांश

सम्राट खारवेल जैन था केवल नाम का ही नहीं अपितु कर्म से भी। अतः अनेको जैन – परम्परा के कार्यों का उसने निष्पादन किया एवं इस शिलालेख (हाथीगुम्फा) में उनका विवरण भी दिया। विभिन्न आलेखों द्वारा विभिन्न बिन्दुओं का साकेंतिक परिचय दिया गया है जैसे कलिंगजिन जो कि प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव का सूचक है/था। कलिंग देश का गोरव होने से इसे कलिंगजन कहा गया है। शिलालेख में कलादान जो कि कलिंग के आराध्यदेव “कलिंगजिन” की प्रतिमा सोने, चाँदी, रत्नों से तौलकर उनका सम्मान किया है। कपरुख अर्थात् सम्राट खारवेज ने दिग्विजय के बाद राजसूत्र यज्ञ एवं कल्पदम पूजा या यज्ञ भी सम्पन्न की जिसमें समाज परिवारजनों राज्यकर्मचारियों, ब्राह्मणों, श्रमणों के रूप में समस्त आदरणीय एवं लाखों प्रजाजनों को यथायोग्य दान का स्पष्ट उल्लेख है। इन अलिलेख में महात्मा बुद्ध के अभ्युदय के बाद बौद्ध भिक्षुओं को भी ब्राह्मणतेतर होने के कारण “श्रमण” कहा जाने लगा था। खारवेल ने गभगृह में डकत “कलिंग जिन” की पुनः प्रतिष्ठा करायी थी। अभिलेख के भद्रबाहु सम्राट चन्द्रगुप्त के साथ बारह हजार श्रमणों—श्रावकों का विशाल संघ लेकर दुर्भिक्षरहित दक्षिण भारत में चले गये थे। इसके अतिरिक्त जैन सम्राट खारवेल मगध—विजय के उपरान्त “कलिंग—जिन” को लेकर आया और चपूधाम से उनकी रत्नजडित खम्भों वाले गर्भगृह में प्रतिष्ठा करायी। अभिलेख में खारवेल की दर्शनशास्त्र के गहन रुचि का वर्णन किया गया है। इस प्रकार अनुष्ठान एवं भेदविज्ञान सल्लेखना आदि के रूप में सम्राट खारवेल ने धर्म—अर्थ—काम एवं मोक्ष इन चार पुरुषार्थ को अपने जवीन में चरितार्थ किया है।



अरुणा गोगानिया

व्याख्याता,
इतिहास विभाग,
पं. नवल किशोर शर्मा गवरमेट पी.
जी. कालेज,
राजस्थान

मुख्य शब्द : पुरुषार्थ—चतुष्टय, इदमित्थमेव, अनिष्णात, कलिंगजिन, आदिब्रह्मा, ओड्रान्त, बृहस्पतिमित्र, पलवभार, राजसूय यज्ञ, ब्राह्मण, कल्पवृक्ष, कल्पद्रुमविधान, किमिच्छिक दान, श्रमण, अरहतानं समणानं, वेदूर्यमणिजटित, गर्भगृह, द्वादशांगी श्रुतपरम्परा, श्रुतपरम्परा, जिनप्रतिमा, जिनश्रुत, योयठि, द्वादशांगी श्रुत, तुरियं, द्वादशांगी जनवाणी, वर्गचतुष्टय, प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग, जीवदेहसिरिका परिखिता, देहात्म, सल्लेखना, समाधिमरण, भेदविज्ञान—सल्लेखना।

प्रस्तावना

हमारे देश को संवैधानिक नामकरण प्रदान करने में प्रमुख निर्णायक भूमिका निभाने वाला, ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी के समकालीन इतिवृत्त का अत्यन्त प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत करने वाला, जैन—परम्परा के अनुसार पुरुषार्थ—चतुष्टय के प्रति व्यावहारिक पद्धति का अनुपम निदर्शन तथा सांस्कृतिक, पुरातात्विक, भाषिक आदि दृष्टियों से अमूल्य राष्ट्रीय धरोहर है। दिग्विजयी जैन सम्राट खारवेल का उड़ीसा प्रान्त में कुमारी पर्वत (उदयगिरी) पर स्थित हाथीगुम्फा अभिलेख। ईसापूर्वयुगीन प्राप्त अभिलेखों में यह संभवतः सर्वाधिक विशाल एवं एकमात्र ऐसा अभिलेख है, जिस पर शताधिक विद्वानों ने लेखनकार्य किया है, फिर भी जो सबसे कम चर्चित है और जिसके बारे में व्यापक संभावनायें अवशिष्ट हैं।

इसके संभावित अनुसन्धेय बिन्दु अनेक हैं। क्योंकि ऐतिहासिक—क्रम में सम्राट खारवेल के पूर्ववर्ती एवं परवर्ती व्यक्तित्वों का प्रायः कोई उल्लेख निहित मिलता है, जैसा कि विविध अभिलेखों के प्रणेता सम्राट अशोक के बारे में मिलता है। इस कारण इस शिलालेख में निहित ऐतिहासिक बिन्दुओं; सम्राट खारवेल वंशबेलि, परिवार, वैयक्तिक जीवन एवं अन्य प्रभावक व्यक्तियों का बोध नहीं हो पाता है। इसी प्रकार इसकी क्षरित अवस्था होने के कारण इसकी लिपि एवं मूलपाठों का सम्पादन भी अभी अंतिमरूप से प्रामाणिक एवं परिपूर्ण नहीं कहा जा सकता है। प्रायः सभी अनुसन्धाता एवं लेखकगण इस तथ्य पर एकमत हैं। भाषा का निर्धारण भी इसका एक अन्य महत्वपूर्ण पक्ष है, क्योंकि प्राकृतभाषा के विविध

क्षेत्रीय एवं कालगत रूपों में इसकी प्राकृतभाषा कौन-सी है?— इस पर अभी तक 'इदमित्थमेव' के रूप में निर्धारण नहीं हुआ है। इनके अतिरिक्त एक प्रमुख बिन्दु है जैन-परम्परा, उसकी परिभाषिक शब्दावलि एवं जीवनशैली का विशद परिचय प्राप्त किये बिना इसका अर्थ करना; क्योंकि सम्राट् खारवेल 'जैन' था; केवल 'नाम' का ही नहीं, अपितु कर्म से भी। अतः अनेकों जैन-परम्परा के कार्यों का उसने निष्पादन किया एवं इस शिलालेख में उनका विशद विवरण भी दिया है; फिर भी उससे अनभिज्ञ या अनिष्णात मनीषियों द्वारा इसका अर्थ किये जाने से इन पाठों के मूल अर्थ या तो प्रकाश में आ ही नहीं पाये हैं, तथा जो आये भी हैं— वे सत्य और तथ्य से प्रायः परे रह गये हैं। प्रस्तुत आलेख में ऐसे ही कतिपय बिन्दुओं का सांकेतिक परिचय प्रस्तुत हैं।

जैन-दृष्टि से ज्ञात हाने वाले प्रमुख तथ्य

महान् इतिहासविद् डॉ. कॅ.पी.जायसवाल जी ने इस शिलालेख पर वर्षों तक मनन-चिंतन के बाद लिखा था कि —'इसकी शैली संक्षिप्तता में 'सूत्र' स्पर्धा करती है।' जैन-दृष्टि से 'सूत्र' का लक्षण है—

“अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् गूढनिर्णयम्।

निर्दोषं हेतुमत्तथ्यं सूत्रमित्युच्यते बुधैः।।”

अर्थात् जिसमें कम अक्षर हों, जो सन्देहोत्पादक न हो, जो सारगर्भित हो, जिसका निर्णय गूढ हो, जो निर्दोष हो, सयुक्तक कथन करता हो एवं तथ्यात्मक हो, उसे विद्वान् 'सूत्र' संज्ञा से अभिहित करते हैं।

अतः सूत्रात्मक शैली के कारण ही इसके सारगर्भित एवं गूढ निर्णयवाले तथ्यों का स्पष्टीकरण पूर्णतः नहीं हो पाया है। उनमें प्रमुख बिन्दु निम्नानुसार हैं—

कलिंगजिन

इनका अर्थ प्रायः विद्वानों ने अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर किया है, जबकि इस शब्द से यह अर्थ नहीं निकलता है। यह वस्तुतः प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव का सूचक है, जिन्हें आदिनाथ, आदिब्र आदि नामों से भी पुकारा जाता है। चूँकि ऋषभदेव के 100 पुत्रों में एक पुत्र का नाम कलिंग था, तथा उसे ओड़प्रान्त (वर्तमान उड़ीसा) का साम्राज्य दिया गया था। संभवतः उन्हीं का क्षेत्र होने के यहाँ भगवान् आदिनाथ ऋषभदेव की पूजा की जाती रही है। वैसे भी ईसापूर्वयुगीन या अतिप्राचीन जितनी भी मूर्तियाँ मिलती हैं, वे सभी प्रायः तीर्थंकर ऋषभदेव की ही हैं। सामान्यतः इसे 'जिनप्रतिमा' कहा जाता है तथा कलिंग देश का गौरव हाने से इसे 'कलिंगजिन' कहा गया है। इसे सम्राट् बृहस्पतिमित्र (वसहतिमित्त) कलिंगदेश को पराजित कर 'मगध' ले गया था, जिसे सम्राट् खारवेल मगध विजय के उपरान्त ससम्मान कलिंग वापस लाये थे।

तुलादान

इसे इस शिलालेख में 'पलवभार' शब्द से संकेतित किया गया है। यह अत्यन्त स्वाभाविक है कि दिग्विजय करके कलिंग के आराध्यदेव 'कलिंगजिन' की प्रतिमा को लेकर वापस लौटे अपने प्राणप्रिय सम्राट् को कलिंग की जनता ने सोने-चाँदी और रत्नों से तौलकर उनका सम्मान किया हो — यह अत्यन्त स्वाभाविक है। चूँकि 'पल' शब्द 'माँस' वाची भी माना गया है, अतः माँस

का पिण्ड जो यह शरीर है, उसे भार/बॉट (तौलने का साधन) बनाकर रत्नाभूषण से तौला गया होगा। यह सम्मान की परम्परा आज भी भारत में प्रवर्तित है।

कपरुख (कप्परुख)

इसका सीधा-सा रूपान्तर 'कल्पवृक्ष' होता है। विद्वानों ने अनुमान लगाया कि सम्राट् खारवेल ने भी दिग्विजय के बाद सम्राट् युधिष्ठिर की भाँति 'राजसूय यज्ञ' किया होगा एवं उसमें ब्राणों को सोने के कल्पवृक्ष बनवाकर दक्षिणा में दिये होंगे। विचारणीय बात यह है कि इसमें ऐसा कोई पद नहीं आता है, जिसका अर्थ 'राजसूय यज्ञ' किया जा सकें। वस्तुस्थिति यह है कि यह 'कल्पद्रुमविधान' का वर्णन है जो जैन परम्परा का एक महत्वपूर्ण धार्मिक अनुष्ठान है। जैन शास्त्रों के अनुसार इसे चक्रवर्ती राजा दिग्विजय के बाद करते थे तथा इसकी पूर्णता पर 'किमिच्छिक दान' देते थे :-

“एदेहि सह अ इंदधय—

कप्परुख—महामह—सव्वदोभददादि—महि

मा—विहाणं पूया णाम।।”

अर्थात् इन्द्रध्वज, कल्पवृक्ष या कल्पद्रुम महामह एवं सर्वातोभद्र इत्यादि महिमामय विधान 'पूजा' कहे जाते हैं। इनमें 'कल्पद्रुम' पूजा का परिचय निम्नानुसार है —

“दत्त्वा किमिच्छिकं दानं सम्राड्भिर्यः प्रवर्त्यते।

कल्पद्रुममहः सोयं जगदाशा प्रपूरणः।।”

अर्थ : जो 'किमिच्छिक दान' देकर चक्रवर्तियों के द्वारा किया जाता है और जिसमें प्रजा की इच्छायें पूर्ण की जाती हैं, वह 'कल्पद्रुम पूजा' कहलाती है।

अन्यत्र भी ऐसा ही विवरण मिलता है —

“किमिच्छकेन दानेन जगदाशाः प्रपूर्य यः।

चक्रिभिः क्रियते सो कल्पद्रुमो मतः।।”

अर्थ : जो चक्रवर्तियों के द्वारा 'किमिच्छिक दान' देकर किया जाता है और जिसमें जगत् के समस्त प्रजाजनों के मनोरथों की पूर्ति की जाती है, उसे 'कल्पद्रुम यज्ञ' कहते हैं। यह अरहंत भगवान् की पूजा है। चूँकि जैन-परम्परा में तीर्थंकर ऋषभदेव को 'कल्पवृक्ष के समान' माना गया है —

“ददानः कल्पद्रुः श्रितजनततेरुत्तम फलम्।।”

अर्थात् (वे तीर्थंकर वृषभदेव) आश्रितजनों को 'कल्पवृक्ष' के समान उत्तम फल प्रदाता हैं।

अतः सम्भव है कि तीर्थंकर ऋषभदेव की प्रतिमा (कलिंग जिन) के प्रत्यावर्तन की शुभ बेला में सम्राट् खारवेल ने सोदेशिक रीति से 'कल्पद्रुम पूजा' का आयोजन किया हो । क्योंकि इसमें समस्त परिवारजनों, राज्यकर्मचारियों, ब्रा-श्रमणों के रूप में समस्त आदरणीयों एवं लाखों प्रजाजनों को यथायोग्य 'किमिच्छिक दान' देने का स्पष्ट उल्लेख है। “हय-गज-रथ सह याति सव घरवासनिं च सव राजभतकानं च सव पहमतीथिकानं च अगणिठिया सब बम्हणानं च पान भोजनं ददाति अरहतानं समणानं च ददाति सत-सहसेहिं।।”

आर्हत श्रमण

अतिप्राचीन काल में 'श्रमण' शब्द का अर्थ ही 'जैन' होता था, क्योंकि इस देश में दो ही वर्ग थे— 'ब्राण एव मण'। तथा 'श्रमण' का अर्थ 'जैन' ही होता था। किन्तु महात्मा बुद्ध के अभ्युदय के बाद बौद्ध भिक्षुओं को भी

ब्राणेतार होने के कारण 'श्रमण' कहा जाने लगा था। सम्भवतः उन्हीं को व्यतिरिक्त करने के लिए इस अभिलेख में 'श्रमण' पद के साथ 'अर्हत्' विशेषण लगाया गया है— 'अरहतानं समणान्, ताकि जैन श्रमण ही गृहीत हों। यह प्रयोग इस दृष्टि से वस्तुतः विचारणीय है।

प्राण-प्रतिष्ठा

जैन-परम्परा में यह मान्यता है कि यदि कोई प्रतिष्ठित जिनप्रतिमा किसी भी कारण से ऐसी दशा को प्राप्त होती है कि काफी लम्बे अरसे तक उसकी नित्य पूजन-प्रक्षाल आदि न हो, तो उसके पुनः पूज्य बनाने के लिए पुनः प्राण-प्रतिष्ठा व मंत्रशुद्धि करायी जाती है। संभवतः इसीलिए सम्राट खारवेल ने भी मंदिर के वैदूर्यमणिजटित गर्भगृह में उक्त 'कलिंग जिन' की पुनः प्रतिष्ठा करायी थी, — यह तथ्य इस वाक्य से स्पष्टतः ध्वनित है—

“वेदूरिय-गभे थंके पतिठापयति”

श्रुत-संरक्षण

यह एक महान् ऐतिहासिक तथ्य है कि अंतिक तीर्थंकर महावीर के द्वारा प्रवर्तित 'द्वादशांगी श्रुतपरम्परा' केवलियों व श्रुतकेवलियों के द्वारा संरक्षित होने पर ईसापूर्व चतुर्थ शताब्दी में सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनकाल में अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु स्वामी तक सुरक्षित रही। फिर उस समय द्वादशवर्षीय भयंकर दुर्भिक्ष उत्तर भारत में पड़ा, तो आचार्य भद्रबाहु सम्राट चन्द्रगुप्त के साथ बारह हजार श्रमणों-श्रावकों का विशाल संघ लेकर दुर्भिक्षरहित दक्षिण भारत में चले गये थे। तब उस मौर्यकाल में पड़े भीषण दुर्भिक्ष के प्रभाववश श्रुतपरम्परा विच्छिन्न हो गयी थी। इस तथ्य को सूचित करने के लिए सम्राट — खारवेल ने लिखवाया —

“मूरियकाल-वोच्छिन्न” अर्थात् मौर्ययुग में विच्छिन्न हुये। क्या? इसका समाधान वह इसके आगे लिखता है—

“चोयठि अंग संतिकं तुरियं उपादयति।”

अर्थात् बारह अंग वाली द्वादशांगी श्रुत एवं तत्सम्बन्धी चारों अनुयोगों की (संगीति बुलाकर अवशिष्ट तत्त्वज्ञान की) रक्षा की — इस तथ्य का भारतीय गणतंत्र की संसद के 89वें अतर्संसदीय सम्मेलन में प्रमाणित किया गया है तथा इस तथ्य को रेखांकित करने वाला एक अतिप्राचीन चित्र भी उसके 'सोवनियर' में प्रकाशित किया गया है।

वस्तुतः जब सम्राट खारवेल मगध-विजय के उपरान्त 'कलिंग जिन' को लेकर आया और धूमधाम से उनकी रत्नजटित खम्भों वाले गर्भगृह में प्रतिष्ठा करायी, तो उसकी रानी सिंधुला ने उससे कहा कि “जिनप्रतिमा के लिए तो आपने इतना किया, किन्तु 'जिनश्रुत' जो अब मौर्यकाल के बाद क्रमशः विच्छिन्न होता हुए विस्मृत प्रायः हो गया है, उसके संरक्षण की भी कुछ चिन्ता है?” तब उसी सिंधुला रानी के आह्वान पर सम्राट खारवेल ने दसों दिशाओं से सैकड़ों ज्ञानियों, यतियों, मुनियों एवं ऋषियों के संघ को बुलवाया एवं इसी कुमारी पवर्तत पर उनका विशाल सम्मेलन करवाया। इसका स्पष्ट विवरण इस शिलालेख की पन्द्रहवीं पंक्ति में अया है। उसमें स्पष्ट उल्लेख है कि इस कार्य में पैंतीस लाख मुद्रायें खर्च हुई

तथा इसमें सिंहपथ की रानी सिंधुला को विशेष योगदान था।

उपर्युक्त “चोयठि अंग संतिकं तुरियं उपादयति” पंक्ति में आगत पदों का भी विश्लेषणपूर्वक चिंतन अपेक्षित है—

(क) चोयठि : इसमें मूलतः (चउ) एवं अठि (अटठ) — ऐसा विभाग है। ऐसे प्रयोग अन्यत्र भी मिलते हैं, यथा— “ननाद ढक्कां नव-पश्चवारम्” अर्थात् उनहोंने (शिवजी ने) अपने डमरू को 'नौ और पाँच' अर्थात् 'चौदह' बार बनया। इसी प्रकार यहाँ 'चार' और 'आठ' मिलकर 'बारह' हुये। इस प्रकार यह 'चोयठि' पद 'द्वादश' के रूप में अंगरूप जिनश्रुत का विशेषण बनकर 'अंग' पद के साथ मिलकर 'द्वादशांगी श्रुत' इस तथ्य को सिद्ध कर देता है।

(ख) संतिकं तुरियं : इस शब्द का अर्थ है 'सम्बन्धित' या 'सारभूत' तो द्वादशांग से सम्बन्ध रखने वाली का उल्लेख अगले पद 'तुरियं' में कर दिया है। 'तुरियं' का स्पष्ट अर्थ होता है 'चार' या 'चतुर्थ'। यहाँ यह 'द्वादशांगी जिनवाणी' से सम्बन्ध जैनश्रुत के विषयगत वर्गचतुष्टय— प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग एवं द्रव्यानुयोग का वाचक है। इसके लिए एक जैनग्रंथ में आता है:

(ग) उपादयति : चूँकि उस समय तक श्रुत का प्रायः विच्छिन्न ही मान लिया गया था। इस विशाल 'संगीति' या 'संगोष्ठी' में आगत श्रमणों एवं ज्ञानियों में जिसको जितना मूल तत्त्वज्ञान स्मृत था, उसको सुनाकर उसका विधिवत् संरक्षण अवशिष्ट 'श्रुतज्ञान' को मानों पुनर्जीवित कर दिया गया था, अतएव यह 'उपादयति' अर्थात् 'उत्पन्न किया' यह सार्थ क्रियाप्रयोग है।

जीव-देह-भेदविज्ञान

इस तथ्य को स्वनामधन्य डॉ. के.पी. जायसवाल ने अपनी शोध-आलेख में स्पष्ट किया है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि— “जीव-देह के जैन विज्ञान का भी इसमें उल्लेख है।” वस्तुतः यह कोई भौतिक विज्ञान नहीं है, अपितु देह में रहते हुये भी देह से भिन्न आत्मतत्त्व या जीव को अनुभव करने कला है। इसके बारे में जैनाचार्य अमृचन्द्रसूरि लिखते हैं—

“भेदविज्ञानतः सिद्धा सिद्धा ये किल केचन।

अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन।।2।।

सम्राट खारवेल ने भी “जीवदेहसिरिका परिखिता” कहकर इस भेदविज्ञान का आध्यात्मिक क्रिया का अपने जीवन में निष्पादन का उल्लेख किया है।

सल्लेखना या समाधिमरण

देहात्मक भेदविज्ञान करनेवाला साधक पुरुष शरीर का मोह नहीं रखता। अब अंतिम समय (आयुर्कर्म की पूर्णता) प्रतीत होता है, तब वह शरीर एवं शरीर-सम्बन्धी क्रियाओं से ममत्व दूरकर सावधानीपूर्वक आत्मकेन्द्रित हो शरीर त्याग होने देता है। इसे ही 'सल्लेखना' या 'समाधिमरण' कहते हैं। सम्राट खारवेल ने अपनी संकल्प शक्ति के रूप में इसका उल्लेख किया है—

“पूजानुरत उवासग खारवेलसिरिना जीवदेहसिरिका परिखिता।”

अर्थात् पूजा-पाठ एवं उपवास करते हुये खारवेलश्री ने जीव एवं शरीर के भेदविज्ञान की परीक्षा कर ली। चूँकि सल्लेखना धारण करने वाला व्यक्ति धर्मध्यान एवं उपवासादि तप में निरत रहता है, अतः यह उसी का पोषक प्रतीत होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दिग्विजय, शासन, दान-पूजादि अनुष्ठान एवं भेदविज्ञान-सल्लेखना आदि के रूप में सम्राट् खरवेल ने धर्म-अर्थ-काम एवं मोक्ष – इन चारों पुरुषार्थों को अपने जीवन में चरितार्थ किया था।

उपर्युक्त कतिपय विचार-बिन्दु संकेतमात्र हैं कि इस शिलालेख को समग्रतः इस दृष्टि में भी देखा जाये और उसके पाठों व अनुवाद का प्रमाणिक पष्टि की जाये।

सन्दर्भ सूची

1. आचार्य वीरसेनकृत 'जयधवल' टीका, भाग 1, पृष्ठ 154
2. दृष्टव्य, अभिधान राजेन्द्र कोश, पृष्ठ 1129
3. 'छक्खंडागम, बंधसामित्तविचय', 3/42, पृष्ठ 92
4. आचार्य निसेन, 'महापुराण', 38/311
5. पंडित आधाधर सूरि, 'सागर धर्माभूत', 2/28
6. पुरुदेवचम्पू, 1/11
7. "जिनार्चाया परित्यक्ते स्पतमासं जिनालये, सर्वलोकशरणयस्य स्यात्प्रतिष्ठापनं पुनः।" – प्रायश्चित्तविधिग्रन्थ, अष्टम अध्याय, पद्य 18

8. "सुकृति समण सुविहितानं च सतदिसान जानिनं यतिनं तपसि इसिनं संधायनं अरहत निसीदिया समीपे पभारे बराकर समथापिताहि, अनेक योजना हिताहि पनतिसाहि सतसहसेहि सिलाहि सिंहपथरानिसिंधुडालय निसियानि।"
9. 'नन्दिकेशवर कारिका' पृष्ठ4
10. प्रतिक्रमणसूत्र, शांतिभेक्ति में।
11. 'कलिंग चक्रवर्ती महाराज खारवेल के शिलालेख का विवरण' नाम आलेख, जो काशी नगरी प्रचारिणी पत्रिका के अंक 8/3, सन् 1928 में प्रकाशित हुआ था।
12. समयसार कलश, 131 तथा ऐसा ही विवरण आचार्य कार्तिकेय ने भी दिया है –
"जो जाणिदूण देहं जीवसरूवादु तच्चदो भिण्णं।"
(कत्तिगेयाणुवेक्खा, गाथा 82) टीका:– यः ज्ञात्वा देहं जीवस्वरूपात् तत्त्वतः भिन्नम्। आत्मानमपि च सेवते कार्यकरं तस्य अन्यत्वम्।
तथा "जे जिणवयणे कुसला भेदं जाणंति जीव-देहाणं;" – (वही, गाथा 194) टीका:– जीवदेहयोरात्मशरीरयेर्भेद जानन्ति, जीवाच्छरीरं भिन्नं पृथग्रूपमिति जानन्ति विदन्ति।